ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 **PP. NO.- 83-88**

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- II, Issues-24, YEAR- April-June-2022

रामदरश मिश्र के उपन्यासों की प्रासंगिकता

डॉ0 रमेश प्रताप सिंह

प्रधानाचार्य, उदय प्रताप इण्टर कॉलेज, वाराणसी (उ0प्र0) भारत

Received-05.04.2022, Revised-09.04.2022, Accepted-12.04.2022 E-mail: rpsingh1165@gmail.com

सारांशः ***– रामदरश मिश्र, एक ऐसा कथाकार जो अपने उपन्यासों के माध्यम से साधारण से साधारण पाठक तक को ग्रामीण जीवन के रहन–सहन, खान–पान, तीज–त्यौहार से परिचय कराता चलता है और बोध के स्तर पर पाठक उनसे ऐसे जुड़ता है जैसे मिश्र जी के साथ वह भी उपन्यास का यह रचनाकार हो। साथ ही साथ मिश्र जी ने वर्तमान ग्रामीण जिन्दगी की उन भीतरी पर्तों को भी खोला है जिनमें से उसकी टुच्ची राजनीति, अन्धी स्वार्थपरता, घिनौना अवसरवादिता, धन और प्रतिके लिए एक–दूसरे का गला काटकर आगे बढ़ जाने की प्रतिद्वन्द्विता भी है।***

कुंजीभूत शब्द– ग्रामीण जीवन, रहन–सहन, खान–पान, तीज–त्यूहार, उपन्यास, रचनाकार, अन्धी स्वार्थपरता, अवसरवादिता।

मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दमन पर आयोरित वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय रूप की, उसके दुश्चक्र में फँसे आदमी की करुण विवशता और असन्तोष को, उसको लेकर निहित स्वार्थों और परिवर्तन कामी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को, आज की ठोस सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सच्चाइयों के बीच रखकर परिभाषित करने वाले रामदरश मिश्र के उपन्यास साक्षात्कार के एक निजी और आत्मीय संसार की पहचान कराते हैं। समकालीन कथा साहित्य में रामदरश मिश्र ने मूलतः एक आंचलिक उपन्यासकार के रूप में अपनी पहचान बनाई है। 'आकाश की छत' में शहर और गाँव के जीवन अनुभव की दूरियाँ समाप्त हो गयी हैं, लेकिन मिश्र जी अपनी याषा जीवन के किसी भी बिन्दु से क्यों न शुरू करें वह चाहे व्यक्ति मन की नितान्त निजी सम्बन्धों की अंतरंग दुनिया हो या मनुष्यता के न्याय के लिए चलने वाला समष्टिगत संघर्ष हो– उनके पैर हमेशा अपने अनुभव की जमीन पर ही रहते हैं और उनके अनुभव की जमीन है गाँव का वह जीवन जिससे रस कण खींचकर उनका रचनाकार अपनी कथाकृतियों की अन्तर्वस्तु का निर्माण करता है, अपनी अभिव्यक्ति के आवश्यक उपकरण जुटाता है। 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' और 'सूखता हुआ तालाब' में तो मुख्यतः गाँव के यथार्थ का चिषण हुआ ही है, लेकिन उनके जिन उपन्यासों का सीधा संबंध शहरी जीवन से है उनके मुख्य पाष भी अनुभव और सोच के धरातल पर हलके या गहरे रूप में गाँव से जुड़े होते हैं। उनके या तो गाँव की धरती से कट जाने की पीड़ा है या फिर गाँव की जड़ता और रूढ़िवादिता से मुक्त होने की छटपटाहट। ये शहर में रहकर भी शहर से नहीं जुड़ पाते। उनकी आन्तरिक जरूरत के रूप में गाँव उनकी स्मृतियों में बार–बार उभरता रहता है। यह नहीं कि गाँव की ये स्मृतियाँ मधुर और आह्लादक ही हों, उनमें भावना की अन्तरंगता और मार्मिक सम्बन्धों की उष्मा ही हों, वे वहाँ की जिन्दगी की अत्यधिक क्रूर और अमानवीय स्थितियों की पीड़ा–जनक यादें भी हो सकती हैं, लेकिन हर हालत में गाँव के जीवन की मिठास या कटुता उनके अनुभव का अंग बनी रहती है। वह उनके विचार और कर्म को, स्वप्न और संघर्ष को दूर तक प्रभावित करती हैं। मिश्र जी की रचनाशीलता और उनके विवेक की जड़ें उनके इसी अनुभव की जमीन में हैं।

रामदरश मिश्र (ज0 1924) का पहला उपन्यास पानी के प्राचीर 1961 ई0 में प्रकाशित हुआ। मैला आँचल के प्रकाशन के बाद उपन्यासकारों में आँचलिकता के प्रति बढ़ते आकर्षण की झलक पानी के प्राचीर में स्पष्ट लक्षित होती है। इस उपन्यास में रामदरश मिश्र ने उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल क्षेत्र में राप्ती, गर्रा आदि नदियों और बरसाती नालों से घिरे पांडेपुरवा नामक गाँव की अभावों से जूझती, निर्धनता, पिछड़ेपन, आपसी कलह और जमींदार के शोषण की शिकार गाँव की जिन्दगी का यथार्थ अंकन किया गया है। इसके साथ ही इस क्षेष की सांस्कृतिक गतिविधियों, जैसे– होली, विवाह, मृत्यु, महामारी आदि प्रसंगों के समय अनायास या अतिरिक्त उत्साह में फूट पड़ने वाले गीतों का भरपूर उपयोग उपन्यास में किया गया है।

'अपने लोग' (1976) उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना गाँव की उस टूटी–बिखरी जिंदगी की पीड़ा से उद्भूत है, जिसके साथ लेखक की गहरी रचनात्मक सम्पृक्ति तो है ही, साथ ही उस जिंदगी के यथार्थ की पहचान वाली वह निर्मम तटस्थता भी है जो गहरे आत्मालोचन एवं विचार तथा संवेदन की गहरी संसक्ति से जन्म लेती है। 'अपने लोग' के कथानायक प्रमोद की अंतःचेतना में गाँव के विविध स्तरीय जीवन की छवि अपनी समग्र ताजगी और जीवन्तता के साथ अंकित है। ''उसने इस गाँव को इतनी गहराई से और इतने अधिक रूपों में जिया है कि इतने दिन तक शहर में रहने के बाद भी वह गाँव उसके भीतर बड़ी तड़प के साथ जिन्दा है या हो सकता है कि बाहर रहने की वजह से ही जिन्दा है। पहर भर रात रहते ही हलचल शुरू हो जाती है– कुएँ पर पानी भरे जाने की आहट नाद में मुँह डालकर बैलों के सानी–पानी सुकड़ने की आवाजें हलवाहों के आने–जाने की आवाजें, फिर बैलों की घंटियों की आवाजें, खेतों में हलों की धड़कनें, बीया और हेंगा के लिये पुकार लगाती

अनुरूपी लेखक / संयुक्त लेखक

आवाजें और एक घण्टा दिन चढ़ने के साथ किसी खेत के जुत बो जाने की सूचना देने वाली हर हर महादेव की आवाजें। मिट्टी की तरह–तरह की गंध उसके भीतर की पर्तों में बसी है।"[1]

रामदरश मिश्र जी का अनुभव संसार अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों और गोरखपुर जैसे कस्बानुमा शहरों से जुड़ा हुआ है। यह क्षेष राप्ती और घाघरा नदियों की बाढ़ से प्रायः ग्रस्त रहता है, जिसकी छाप मिश्र जी की संवेदना पर भी दिखाई देता है। उनके कई उपन्यासों में पानी प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'जल टूटता हुआ' कथ्य की दृष्टि से 'पानी के प्राचीर' का ही विस्तार है। इन उपन्यासों में घाघरा–राप्ती का वह अभावग्रस्त और अभिशप्त ग्रामीण क्षेष है जो स्वतन्षता–प्राप्ति के बाद सुखी जीवन के सपने देख रहा था। जनता सोचती थी कि आजादी मिलने पर महीप सिंह जैसे जालिम जमींदारों और देशद्रोहियों को फाँसी की सजा मिलेगी, पर हुआ इसके विपरीत।

'जल टूटता हुआ' के सुग्गन मास्टर कहते हैं, "इतने साल हो गये आजादी मिले हुए। यह अभागी जिन्दगी टस से मस न हुई।"[2] आजादी ने प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर सुग्गन तिवारी को कभी दो कुरते और तीन धोतियाँ नहीं दीं। समय पर वेतन नहीं मिलता, खेत में कुछ पैदा नहीं होता, बनिया तक उधार सामान नहीं देना चाहता और "देश के नौनिहालों की आत्मा का यह शिल्पी" मन में सपने और पेट में कुलकुलाती आँतें लिए स्वाधीनता दिवस का समारोह मनाने स्कूल जाता है।

भ्रम यह है कि आखिर लेखक क्यों उलझता है गाँव की जिंदगी से? क्यों इस प्रकार की तड़प और बेचैनी का अनुभव करता है वह उसके लिये? शहर की आवाजों के बीच घिरकर भी उसकी स्मृतियों में गाँव की आवाजें क्यों गूँज–गूँज उठती हैं? क्यों ऐसा होता है कि शहर में रहकर भी गाँव की ओर जाने वाली पगदंडी को देखकर वह भावुक हो उठता है? क्यों गाँव के फटे हाल लोगों को शहर की सड़कों पर पसीने से लथपथ दौड़ते देखकर उसके ह्रदय की धड़कनें तीव्र हो जाती हैं? गाँव के जीवन के प्रति रचनाकार के इस असाधारण आकर्षण को आलोचकों ने आशंका की दृष्टि से देखा है। आशंका को शब्द देते हुए डॉ0 चन्द्रकांत बान्दिवडेकर लिखते हैं– "नगर जीवन की मानसिकता से ऊबे हुए लेखकों ने अपने बचपन के जीवन में, ग्राम्य जीवन की जो हरियाली भोगी थी उसका वास्तविक वर्णन आँचलिक साहित्य के नाम पर करना आरम्भ किया।"[3] प्रखर मार्क्सवादी समीक्षक डॉ0 शिवकुमार की भी आँचलिक कह जाने वाले उपन्यासों से शिकायत है कि इनके रचनाकारों के लिए प्रायः मानवीय यथार्थ की तुलना में परिवेश से जुड़ी हकीकतें अधिक महत्वपूर्ण बन जाती हैं।[4] अतः प्रश्न यह है कि गाँव की जिन्दगी के प्रति रामदरश मिश्र की यह ललक और यह आकर्षण, क्या उनकी वैचारिक या संवेदनात्मक पिछड़ की यह ललक और यह आकर्षण, क्या उनकी वैचारिक या संवेदनात्मक पिछड़ की ओर संकेत करते हैं? या वे उनकी किसी गहरी रचनात्मक आवश्यकता को पूरा करने वाले उनके सोच और संवेदन को गति और दिशा प्रदान करने वाले जरूरी उपकरण हैं।

कहना न होगा कि रामदरश मिश्र के रचनात्मक अनुभव के लिये गाँव की जिन्दगी कोई सुविधा का विषय न होकर एक चुनौती है। उसमें जीवन और रचना दोनों ही स्तरों पर संघर्ष की स्वीकृति है। हर हालत में यह उस मनुष्य की पक्षधरता है जो हड्डियाँ जला देने वाला कठोर परिश्रम करके भी उतना नहीं पाता जितने से अपना और अपने परिवार का पेट भर सके–

"नीरू ने आज सुबह ही सुबह माँ के हाथों पर हते भर की तनख्वाह रख दी थी इसलिये खाने का इन्तजाम हो गया था। नीरू ने खाना खाते समय कपड़ा निकाला तो माँ स्तब्ध रह गयी। हड्डियाँ निकल आयीं थीं, नसें उभर गई थीं। माँ ने एक बार हते भर की तनख्वाह का हिसाब लगाया, फिर नीरू की हड्डियों को गिना, कुछ कह नहीं पा रही थी।

'नीरू तुम्हें कितनी तनख्वाह मिलती है? **माँ का स्वर था।"आठ आने रोज माँ।' 'तीन रुपये तो तुमने घर को दे दिये। आठ आने में एक हता कैसे काम चला होगा।' गीले स्वर में माँ ने पूछा। "चल जाता है माँ, चल जाता है। तुम काहे को चिंता करती हो। मिल में सामान सस्ते में मिल जाता है।"[5]**

माँ ने नंगी वास्तविकता के अधिक अनावृत्त होने के भय से बात अधिक नहीं बढ़ाई।

मिश्रजी का कथाकार अपनी सर्जना में इसी नंगी वास्तविकता से जूझता है बड़े निर्मम भाव से उसे अनावृत करता चलता है। 'जल टूटता हुआ' (1969) का सतीश अनुभव करता है "गरीबी सबसे बड़ा अपमान है– वह तेज, विद्या, बुद्धि सब छीन लेती है।"[6] और कि "इस इलाके के बड़े बामन, हरिजन, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, सभी भूख और गरीबी के चक्के में बुरी तरह पिस रहे हैं।"[7]

गरीबी में पिसने वालों की यह व्यथा–कथा ही मिश्रजी की चेतना को बार–बार कुरेदती है। उन्हें बेचैन बनाती है और उन्हें ऊबड़–खाबड़ वीरान इलाकों में ले जाती है जहाँ घायल सामधारी इलाज के अभाव में दम तोड़ देता है, जहाँ सुग्गन मास्टर पग–पग पर समझौता करने के बावजूद सिर पीटकर रह जाते हैं; चिनैया की मजबूती उसे वेश्या बनाकर छोड़ देती है। फुलवा का सर्वस्व चला जाता है और मँगरू को उसके खेत से बेदखल कर दिया जाता है। वस्तुतः मिश्रजी का कथा साहित्य इस सामाजिक अन्याय के विरूद्ध और प्रकृति तथा व्यवस्था की दुहरी मार खाने वाले लोगों के पक्ष में की गयी जरूरी

कार्यवाही है। यही वह कसौटी है जिस पर वे आज की राजनीति और दर्शन को,. धर्म और संस्कृति को, अनुभव और विचार को, कला और जीवन मूल्यों को परखते हें। इनमें से जो भी गाँव की इस शोषित मनुष्यता के हित में है, वही मानवीय और मूल्यवान है, और जो इसकी पक्षधरता नहीं करता, उसके आस–पास चकाचौंध कर देने वाला कितना ही तेजस्वी प्रभा मण्डल क्यों न हो, वह मानव विरोधी है– त्याज्य है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक बात जो कभी भुलाई नहीं जानी चाहिए वह यह कि एक रचनाकार की मानवीय पक्षधरता विचार और व्यवहारगत न होकर अनुभवात्मक होती है। यह जरूरी है कि उसकी पक्षधरता आरोपित न हो। रचना में यह पाष परिस्थिति के संघर्ष और सामंजस्य की तार्किक परिणति के रूप में आए। उसमें आने वाले विचार अनुभव प्रसूत हों, संयोग से "अपने लोग" का कथानायक प्रमोद एक रचनाकार के रूप में मनुष्यता का पक्षधर है लेकिन वह अपनी इस पक्षधरता से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता– "कभी–कभी तड़प होती है रही है कि काश मैं इस मिट्टी में उतर कर इस मिट्टी की गरीबी के विरूद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। साहित्य के माध्यम से तो यह संघर्ष उभारने की कोशिश करता रहा हूँ, लेकिन साहित्य का संघर्ष काफी नहीं है।"[8] जल टूटता हुआ के अमलेशजी अपनी उच्चकोटि की साहित्यिक सांस्कृतिक अभिरुचि के बावजूद अपने आपको दीनदयाल की धूर्त्तता से नहीं बचा पाते। अमलेशजी यह कहते ही रह जाते हैं– "हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में– साहित्य पर बहस कर लो......।"[9] लेकिन इससे उनकी स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं कि रामदरश मिश्र सामाजिक संघर्ष में साहित्य की कोई भूमिका ही स्वीकार नहीं करते। यहाँ उनका संकेत इस तथ्य की ओर है कि बड़ी से बड़ी क्रांतिकारी कलाकृति भी क्रांति की समानार्थ नहीं हो सकती। उसकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। लेकिन उसका प्रभाव सीधा न होकर परोक्ष होता है। इस परोक्षता का सम्बन्ध सीधे–धीरे साहित्य की रूपगत मर्यादा से है। यही वह सीमा रेखा है जहाँ कभी–कभी रचनाकार के अन्वेषण की दिशा और आलोचक के आग्रहों के बीच टकराहट की स्थिति पैदा हो जाती है।

मिश्र जी के उपन्यासों में आने वाला गाँव सामान्य न होकर विशिष्ट है। वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के ऐसे भू–भाग से सम्बन्धित है जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण नदियों से घिरा हुआ है। इन नदियों का पानी इस भू–भाग के लिए जीवनदायी तत्व बन सकता था, लेकिन हुआ यह है कि वह बाढ़ बनकर आता है और खेतों में खड़ी फसलों को अपने साथ बहा ले जाता है। वहाँ के लोगों को बेघर समस्या 'जल टूटता हुआ' की है। इन दोनों उपन्यासों की समस्या और उसके समाधान की खोज की दिशा में जो अन्तर दिखाई देता है वह समय के साथ बनते बिगड़ते नए सामाजिक, राजनीतिक, समीकरणों ने उपस्थित किया है। दोनों ही उपन्यासों के केन्द्र में कछार के अभावग्रस्त जीवन की करुण स्थितियों के बीच से उभरकर लेखक की चेतना पर बार–बार एक ही सवाल दस्तक देता है। वह यह कि इस शोषित और वंचित मनुष्यता को इस घोर लज्जाजनक गरीबी से मुक्ति कैसे मिलेगी? कब मिलेगी?

व्यवस्था का नागपाश और अमानवीयकरण की प्रक्रिया– इस स्तर पर उनका पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' हमें एकदम आश्वस्त नहीं करता। उसमें शोषित समाज की पीड़ा का मर्म तो है, लेकिन "पांडे पुरवा के लोग उन ताकतों को पहचानने की प्रतीति नहीं कराते जो उनका शोषण करती है। इस पहचान के अभाव में ही लोगों के मन में उन शक्तियों के प्रतिकार की प्रभावशाली भूमिका भी निर्मित नहीं हो पाती।"[10] उपन्यास में संघर्ष तो है लेकिन वह लगभग गँवई लड़ाई के स्तर पर ही चिषित हुआ है। कथानायक नीरू के पिता सुमेश पांडे के लिए कहा गया है– "यह मजबूरियों से घिरा होने के नाते वर्तमान को ही देख पाता था। भविष्य के प्रति उसकी दृष्टि हमेशा सजग नहीं रह पाती थी। हर बार वर्तमान की छोटी उपलब्धियाँ भविष्य की बड़ी संभावनाओं का तिरस्कार कर देतीं।"[11] यह कथन जैसे गाँव के सभी लोगों के लिए सही ठहरता है। नेता गनपति को इस बात की जानकारी है कि "अँगरेज सरकार ने भाई–भाई के बीच फूट डाल रखा है, यह जमींदार आसामी का फर्क बना रखा है....इस अँगरेज सरकार ने हमारी जिन्दगी पायमाल कर दी है।"[12] लेकिन उनकी यह जानकारी विचार के धरातल पर ही रहती है, वह जीवन व्यापारों के बीच से फूटकर अनुभव के धरातल पर नहीं आ पाती।

लेकिन शायद आलोचकीय दृष्टि की एक मर्यादा यह भी होती है कि वह व्यक्ति या समाज–जीवन की किसी सच्चाई को, उसके किसी अंश को उसी रूप में चिषित देखना चाहती है जिस रूप में उसने उसकी धारणा बना ली है। यदि रचनाकार का कोई विचार उसकी रचना में अनुभव के स्तर पर व्यक्त न हो सके तो इस असंगति को आसानी से पहचाना जा सकता है। लेकिन उसके रचनात्मक अनुभवों में अन्तर्निहित दृष्टि को, रचनाकार के संवेदनात्मक उद्देश्य को पहचान पाना उतना आसान नहीं हो पाता। 'पानी के प्राचीर' में व्यवस्था के खिलाफ सीधी कार्यवाही के रूप संघर्ष का चिषण लेखक को अभिप्रेत नहीं है। उसका संवेदनात्मक उद्देश्य कुछ दूसरा ही है– कहना न होगा कि वह अधिक गहरा है और उसकी व्यंजना भी अधिक सांकेतिक रूप में हुई है। उपन्यास का कथानायक नीरू "सोच रहा है मगर उसके सोचने से क्या होता है? प्रवाह तो अपने रास्ते चला जा

रहा है। वह सोचता है— इसे रोकना है।''[13] इस आतंककारी अमानवीय प्रवाह ने नीरू के जीवन को तबाह कर दिया है— ''उसके मन में सत्य और कल्पनाओं की एक भीड़ खड़ी हो गई है। खेत सब मुखिया के पेट में चले गए। घर के सामान कस्बे के बनिए ने खा डाले। चारों ओर से कर्ज दहाड़ रहा है।''[14] हर स्तर पर अन्याय और शोषण की यातनाओं को झेलने वाला नीरू जमींदार गजेन्द्रसिंह की नौकरी करते हुए अपनी और अपने साथ ही अपने वर्ग क यातनाओं के मूल तक पहुँच जाता है। वह देखता है ''गुलाब के फूलों की लाली हवेली के पीछे मुस्करा रही थी, रंग रही बगीचे के आँचल को......और...... और हवेली के सामने किसानों की पीठ पर रक्त की चिपचिपाहट धूप में चिलचिला रही थी।''[15] नीरू देखता है कि किसानों की पीठ पर कोड़े बरसाने वाले गजेन्द्र सिंह के सिपाही भी किसानों के ही बेटे हैं। ''वह सोच रहा था ये सिपाही भी कितने जानवर हो गए हैं? घर के गरीब मजदूर किन्तु जैसे जमींदारी प्रथा ने इन पर जादू करके या खुद किसानों पर जो अत्याचार करने हैं वह खुद अपने पर कर रहे हैं।''[16]

व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष और व्यक्ति मन के अन्तर्निषेधः—बदलाव की कामना एक बात है लेकिन भीतरी तथा बाहरी अवरोधों से जूझते हुए आगे के पथ का संधान करना दूसरी बात है। मिश्र जी उन लोगों में से नहीं हैं जो समस्या का सरलीकरण करके अपने अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष से मुक्ति पा लेते हैं। वे समस्या को बढ़ा—चढ़ा कर या अकारण उलझाकर भी प्रस्तुत नहीं करते। वे अनुभव और विचार दोनों ही स्तरों पर अपने सृजन के दायित्व की गम्भीरता का निर्वाह करते हैं। वे गाँव के (और भारत गाँवों का देश तो है ही) ऐसे लोगों की मानवीय चिन्ता और उनके मानवीय संघर्ष को रूपायित कर रहे हैं जिनके पास अपनी एक परम्परागत दृष्टि भी है। वे भले ही चिन्तन के स्तर पर उस परम्परा से जुड़े न हों, लेकिन उनके संस्कार बड़ी दूर तक उनकी समझ और सोच की दिशा का निर्धारण करते हैं। मनुष्यता के हित में चलने वाला संघर्ष अनेक स्तरों पर लड़ा जा रहा है, वह अनेक दृष्टियों से अपने आपको संवर्धित कर रहा है। हमारे यहाँ कम से कम दो दृष्टियाँ तो क्रियाशील हैं ही— गाँधीवादी और मार्क्सवादी। हम एक को आध्यात्मवादी कह सकते हैं और दूसरी को भौतिकवादी। 'जल टूटता हुआ' का कथानक अपने संघर्ष की दिशा निर्धारण में एक गहरे अन्तर्विरोध में फँसा दिखाई देता है। एक स्तर पर वह आत्म पीड़ा और आत्मदान के पथ पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँचने की बात सोचता है। ''नहीं वह सत्य का पक्ष नहीं छोड़ेगा, चाहे कितने ही खतरे उठाने पड़ें, उसे टूट ही क्यों न जाना पड़े, देश में और लोग भी हैं जो इस पथ से चल रहे हैं, वह परगना हाकिम, कलक्टर साहब सभी तो इस पथ पर हैं।''[17] लेकिन दूसरे स्तर पर वह बड़ी बेचैनी के साथ अनुभव करता है कि सामाजिक न्याय की इस समस्या को नीति या निष्ठा के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता। यह बात नहीं कि ऐसे परगना हाकिम या ऐसे कलक्टर हमारे बीच हैं ही नहीं जो सतीश की तरह ही प्रलोभनों और आकर्षणों से दूर रहकर अपनी ईमानदारी की बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं, लेकिन कानून जौर कर्त्तव्य परायणता से उस सच्चाई को कैसे झुठलाया जा सकता है, जिसके रहते सतीश अनुभव करता है कि ''कागजी न्याय, पुलिस वगैरह झूठे झमेले हैं, जो कभी भी सत्य का पक्ष नहीं ले सकते, सब उलझाकर छोड़ देते हैं।''[18] सतीश यह समझ चुका है कि न्याय की लड़ाई अदालत में नहीं लड़ी जा सकती और न उसको लड़ने का वह तरीका हो सकता है जो उसका अपना है। इस लड़ाई का अंतिम फैसला जनता की अदालत में होगा और इसका कारगर तरीका वह होगा जो महीपसिंह के विरुद्ध जगपतिया ने अख्तियार किया था। यानी इसके लिए समानधर्मा लोगों को संगठित करना होगा और शोषण तथा दमन करने वाली ताकतों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करनी होगी। महीपसिंह और उस वर्ग के लोग उसी भाषा को समझते हैं जो जगपतिया की है। लेकिन फिर भी सतीश रचनात्मक स्तर पर पूरी तरह जगपतिया के साथ जुड़ नहीं पाता। यह नहीं कि वह वर्ग—संघर्ष की सच्चाई और उसकी क्रांतिकारी भूमिका से अपरिचित हों। उसमें उसके जुड़ने की गहरी चाह भी है। लेकिन जैसे कोई भीतरी दबाव उसे उस दिशा में आगे बढ़ने से रोक देता है। यह दबाव उसके अपने संस्कारों का है जो उसे अपनी परम्परा से या कहें कि अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। विरोधाभास यह है कि अपने पिता के परम्परागत दाय को भी वह पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ने की बेचैनी और अन्तर्निषेधों से ग्रस्त होकर अपने आत्मबद्ध चिंतन के घेरे से बाहर न निकल पाना सतीश के जीवन की एक बहुत बड़ी विडम्बना है। क्या यह आत्म—संघर्ष प्रकारान्तर से समग्र भारतीय जनमानस के आत्म—संघर्ष का परिचायक नहीं है।

'जल टूटता हुआ' में लड़के, घर से साफ कपड़े और टोपी के लिए अपनी माताओं के थप्पड़ खाकर, कागज की टोपियाँ लगाकर गीली आँखें और 'हँसी पहने हुए' चेहरे लेकर स्कूल पहुँचते हैं। सुग्गन मास्टर जी ने उनसे कहा था कि 'हँसी खुशी के साथ आना', पर वे साफ देखते हैं कि 'हर हँसी के पीछे एक उपवास है, एक बेबसी है।' यही वह पीड़ा है जिसे रामदरश मिश्र ने, अपने उपवास में, उसके पूरे परिवेश के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

'अपने लोग' में जो सामाजिक—राजनीतिक परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आया है वह हर स्तर पर नैतिक विघटन की

सूचना देता है। जैसे पूरी की पूरी व्यवस्था कुछ चालाक और अवसरवादी लोगों के इशारे पर नाच रही है। चारों ओर फैली मूल्यगत अराजकता के इस माहौल में वे लोग ही फूल–फल रहे हैं जो दूसरों का खून चूस कर मोटे होते रहने में माहिर हैं या दूसरों की झोपड़ी उजाड़ कर अपना महल बना लेने में किसी प्रकार की नैतिक बेचैनी का अनुभव नहीं करते। ये सारी स्थितियाँ कथानायक प्रमोद को न केवल मानसिक स्तर पर बेचैन बनाती हैं, बल्कि कर्म और चिन्तन के धरातल पर गहरे संघर्ष के बाद उसे इस आत्मस्वीकार की ओर ले जाती हैं कि व्यक्ति और समाज को इन स्थितियों से बाहर निकालने का एक माष रास्ता समाजवाद है। संयोग से प्रमोद एक रचनाकार भी है और अपनी रचनाओं में वह उन्हीं मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षशील है जो शोषित मनुष्यता को पक्षधरता करते हैं। उसके प्रगतिशील चिन्तन का आदर्श ऐसे सामाजिक संघर्ष की भूमिका का निर्माण करना है जो मानव–मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। प्रमोद जानता है कि यह लड़ाई अकेले हाथों नहीं लड़ी जा सकती। इसके लिये एक सामाजिक राजनीतिक संगठन का होना निहायत जरूरी है। लेकिन संगठन के साथ जुड़ने के सवाल पर एक रचनाकार के रूप में उसका मन द्विधाग्रस्त दिखाई देता है। उसे डर है कि राजनीतिक संगठन कहीं उसकी लेखकीय स्वतंषता को मर्यादित न कर दे। उसका यह संदेह सम्भवतः उन कठमुल्ले साम्यवादियों की बहसों से जन्मा है जिन्हें न जिन्दगी का अनुभव है, न मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की पहचान। लेकिन एक लम्बे अन्तर्द्वन्द्व के बाद एक व्यावहारिक शर्त के साथ वह अपने आपको साम्यवादी पक्ष के साथ जोड़ लेने को तैयार हो जाता है। शर्त यह कि वह साम्यवादी पक्ष उन लोगों का नहीं होगा जिनके लिए मार्क्सवाद केवल एक फैशन है जो शहर के कॉफी हाउसों में बैठकर केवल शाब्दिक बहस ही कर सकते हैं और कुछ भी नहीं कर सकते। वह पक्ष कामरेड जनार्दन जैसे लोगों का होगा जो मार्क्सवाद को जनता में जीवित करना चाहते हैं। जो किसानों और मजदूरों के बीच रहते हैं। उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उन्हें जगाते हैं, पढ़ाते हैं, लिखाते हैं।"[19] इसलिये अपने पुष पवन को साम्यवादी पक्ष के साथ जुड़ते देखकर प्रमोद उससे कहता है– "कभी–कभी तड़प होती है कि काश में इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। मैं सक्रिय संघर्ष नहीं कर सकता यह मेरी सीमा है, इसलिये वह चाह लिए मैं बराबर तड़पता रहा हूँ। वह चाह तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्ति पा ले, तो मुझे परम तृप्ति होगी।"[20] हालांकि किसी पाष की मान्यताओं को ज्यों की त्यों रचनाकार की मान्यताओं के रूप स्वीकार कर लेना उचित नहीं माना जा सकता, लेकिन प्रमोद की उपर्युक्त मनःस्थिति और उसमें उद्भूत चिंतन में लेखक की अपनी मान्यताओं और आस्था की अनुगूँज आसानी से सुनी जा सकती है।

'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में गजेन्द्रसिंह और महीपसिंह जैसे क्रूर जमींदारों के यहाँ नौकरी करते हुए नीरू और सतीश किसानों के साथ अपेक्षाकृत रहमदिली का व्यवहार करते हैं। उनके इस मानवीय व्यवहार के कारण हम उनके प्रति अन्दर ही अन्दर कृतज्ञता से भर उठते हैं। उन दोनों का यह बड़ा संवेदनशील और मानवीय रूप हमें दूर तक प्रभावित करता है। हालांकि यह कटु सत्य है, लेकिन इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि इस प्रकार की करुण और मानववाद से गरीबों और शोषितों की स्थिति नहीं बदली जा सकती।

'पानी के प्राचीर' का नीरू हुरदरेव राय को लेकर सोचता है– 'चूसना, चूसना और चूसना ही इन लोगों का काम है। इसलिए जवार के बड़े आदमी बने हुए हैं।"[21]

महीपसिंह के यहाँ नौकरी करते हुए सतीश ने भी "जैसे एक नयी दुनिया देखी "एक दुनिया जिसका रंग किसानों और मजदूरों की चीख चिल्लाहटों के कंधों पर खड़ा था। जिसके कमल इन गरीबों के पसीने के कीचड़ में खिले थे, जिसका प्रकाश गरीबों की हड्डियों की रगड़ से फूटा था।"[22]

पाषों के चरिष निर्माण में भी मिश्र जी ने उनके वर्गीय वैशिष्ट्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है। खास तौर से उनके नारी पाषों में सामाजिक दायित्व के पक्ष से लेकर प्रेम के व्यक्तिगत धरातल तक श्रमिक वर्ग की नारियाँ अधिक संघर्षशील दिखाई देती हैं। वह चाहे बिंदिया हो या लवंगी, इमरतिया हो या रूपमती इस वर्ग की हर स्त्री जीवन संघर्ष के स्तर पर अधिक ऊँची नीतिमत्ता उदारता और मानवीय संवेदनशीलता का परिचय देती है। वह परिस्थितियों के सामने झुकती नहीं; उनका डरकर मुकाबला करती है। ये सभी श्रमिक होने के साथ ही तथाकथित छोटी जाति की नारियाँ हैं। लेकिन ये बड़ी जातियों के 'बड़प्पन' के खोखलापन को बखूबी जानती हैं। बिंदिया सोचती है– "कैसे हैं ये बामन कुत्ते। रात में विष्टा तक खा लेंगे और दिन में ओठों पर पान की पीक पोतकर महकने की कोशिश करते हैं।[23] 'जल टूटता हुआ' की बदमी चुनौती के स्वर में कहती हैं– "यह गिरने गिराने का काम आप लोगों के घरों की बामनियाँ करती हैं, मुझसे किसी के घर का कुछ छिपा नहीं है।"[24]

निष्कर्षत– कहा जा सकता है कि मिश्र जी ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें गाँव की मिट्टी से गहरा प्रेम है, जिन्हें वहाँ के नदी–तालाबों, खेत–खलिहानों, बाग–बगीचों, तीज–त्यौहारों, मेलों–दशहरों के प्रति गहरा आकर्षण है। लेकिन इन सबके प्रति उनके लगाव का एक माष कारण यह है कि ये सब उस मनुष्य के साथ जुड़े हुए हैं, जिस पर प्रकृति और व्यवस्था की दुहरी

मार पड़ रही है। उनके श्रेष्ठ उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन आंचलिक तत्वों के प्रति गहरे आकर्षण के बावजूद अपनी कथा–कृतियों में मिश्र जी उस मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते, जिसकी यातनाओं के मूल में वर्ग विभक्त समाज की सच्चाइयाँ हैं। मिश्र जी का मानना है कि सम्पत्ति का संचय शोषण से होता है। इसी से अभाव और गरीबी जन्म लेती है। लेकिन गाँव के जीवन के यथार्थ का एक छोर भारतीय समाज की वर्ण–व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है। इसने अछूत समझे जाने वाले मनुष्य की यातनाओं को और भी बढ़ाया है। मिश्र जी ने खास–तौर से इस तथ्य को रेखांकित किया है कि इस वर्ण–व्यवस्था के मूल में भी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का असमान और अन्यायपूर्ण वितरण करे। उनका मानना है कि शोषित और दलित मनुष्यता की मुक्ति का माष रास्ता वर्ग–संघर्ष है। इस संघर्ष में दलित वर्ग की भूमिका अधिक नियामक होगी। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि वर्ग–संघर्ष और समाजवाद का रास्ता आसान नहीं है। यह एक सीधी चढ़ान है जिस पर व्यक्ति के भीतरी और व्यक्तिगत स्वार्थों की खतरनाक फिसलनें हैं, लेकिन फिर भी उनके पाष अपने भीतरी और बाहरी अवरोधों से टकराते हुए इस रास्ते पर आगे बढ़ते हैं।

अपने अनुभव की आंतरिक जरूरत के रूप में मिश्र जी ने आंचलिक शिल्प स्वीकार किया है। यह कला रूप उन्हें जीवन के विविध स्तरीय यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने समझने की छूट देता है। बिखराव वाले शिल्प को उन्होंने कुशलता से साधा है, क्योंकि वे जिंदगी को टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखते। उन्हें युग के गतिशील यथार्थ के विविध तत्वों के अन्तःसम्बन्धों की गहरी पहचान है। यह पहचान ही उनके बहुस्तरीय अनुभव को रचनात्मक संयोजन प्रदान करती है। सैद्धान्तिक दुराग्रहों से बचकर जीवन के प्रगतिशील तत्वों को रचना में अनुभव के स्तर पर उद्घाटित कर सकने की अपनी उच्च–कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा के कारण समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों में मिश्र जी अपनी अलग पहचान बनाते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अपने–लोग, पृ0 148.
2. जल टूटता हुआ, पृ0 106.
3. उपन्यास : स्थिति और गति, पृ0 22.
4. आलोचना अंक 51–52 (प्रेमचंद और परवर्ती कथा साहित्य)।
5. पानी के प्राचीर, पृ0 157.
6. जल टूटता हुआ, पृ0 102.
7. वही, पृ0 16.
8. अपने–लोग, पृ0 360.
9. जल टूटता हुआ, पृ0 101.
10. रामदरश मिश्र के उपन्यास, पृ0 57.
11. पानी के प्राचीर, पृ0 24.
12. वही, पृ0 184.
13. वही, पृ0 3.
14. वही, पृ0 74.
15. वही, पृ0 220.
16. वही, पृ0 222.
17. जल टूटता हुआ, पृ0 514.
18. वही, पृ0 449.
19. अपने–लोग, पृ0 373.
20. वही, पृ0 361.
21. पानी के प्राचीर, 144.
22. जल टूटता हुआ, पृ0 113.
23. पानी के प्राचीर, पृ0 50.
24. जल टूटता हुआ, पृ0 531.

*****